



साप्ताहिक सर्वोदय समाचार विचार सेवा, 29 संवाद नगर, नवलखा, इंदौर-452001 (म.प्र.) फोन एवं फैक्स- (0731) 2401083

संस्थापक – सम्पादक : सव. श्री महेन्द्रकुमार  
कार्यकारी सम्पादक : चिन्मय मिश्र

E.mail - indoresps@gmail.com  
sps2005@dataone.in

(केवल प्रभातकिरण के लिए विशेष आलेख)  
(20 नवम्बर अंतरराष्ट्रीय बाल दिवस पर विशेष)

## बीमार व्यवस्था में बच्चों का स्वास्थ्य

✍ सचिन कुमार जैन

20 नवम्बर अंतरराष्ट्रीय बाल दिवस है। वैश्विक स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा पत्र के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम हम स्थानीय स्तर पर बच्चों के प्रति संवेदनशील हो। 1924 में पहली बार जिनेवा में लीग ऑफ नेशन ने अन्तरराष्ट्रीय कानून के तहत बाल अधिकारों को मान्यता देते हुए बच्चों को एक स्वतंत्र ईकाई माना। साथ ही उस परम्परा को तोड़ने वाला समझौता किया जिसमें बच्चों को उनके पिता की सम्पत्ति माना जाता था। तब तक बच्चों पर जिम्मेदारियों का बोझ तो होता था परन्तु उन्हें अधिकार नहीं थे। मतलब साफ है कि बीसवीं सदी के शुरुआती सालों से ही बच्चों और उनके अधिकारों को मानव विकास का अहम् हिस्सा मानने की पहल शुरू हुई परन्तु 90 वर्ष गुजर जाने के बाद भी व्यवहार के स्तर पर यह पहल पूरी तरह से परिपक्व नहीं हो पाई है। का. सं.

सरकार किसी जनमुद्दे के संदर्भ में अपनी नीतिगत प्राथमिकताओं का निर्धारण बजट आवंटन करके स्पष्ट करती है। बच्चों के स्वास्थ्य के संदर्भ में सेंटर फॉर बजट गर्वनेंस एण्ड अकाउण्टेबिलिटी ने बजट का विश्लेषण करके सरकार की बच्चों के स्वास्थ्य के प्रति उपेक्षा को बहुत स्पष्टता से उजागर किया है। उनका अध्ययन बताता है कि मध्यप्रदेश सरकार राज्य के सकल घरेलू उत्पाद का केवल 0.1 प्रतिशत हिस्सा बच्चों के स्वास्थ्य पर खर्च करती है और इतना कम बजट आवंटन राज्य की नीतिगत मंशाओं पर सवाल खड़े करता है। राज्य में वर्ष 2006-07 के बजट अनुमानों के मुताबिक बच्चों के लिये आवंटित होने वाले कुल बजट में से 79.7 फीसदी शिक्षा पर व्यय होता है और मात्र 3.4 प्रतिशत बच्चों के स्वास्थ्य के लिये आवंटित हुआ। इसे बहुत बड़े पैमाने पर बढ़ाने की जरूरत है। सहस्राब्दी विकास लक्ष्यों में सरकार ने तय किया है कि हम वर्ष 2015 तक शिशु मृत्यु दर में दो तिहाई की कमी लायेंगे, जिसकी कोई संभावना आज की सरकारी नीतियों और उसके काम करने के तौर-तरीकों में नजर नहीं आती है।

खासतौर पर बच्चों की स्थिति के संदर्भ में यह बेहद जरूरी साबित हुआ है कि राज्य, बच्चों के स्वास्थ्य के संरक्षक की अपनी भूमिका को ईमानदारी के साथ स्वीकार करें। भारत में हर वर्ष 31 लाख बच्चों की मृत्यु पांच वर्ष से कम उम्र में हो जाती है और इनमें से 60 फीसदी तो अपना पहला जन्मदिन भी नहीं मना पाते हैं। ये डायरिया, खसरा, मलेरिया और निमोनिया जैसी इलाज योग्य बीमारियों के खिलाफ अपने जीवन की लड़ाई हार जाते हैं। यह जानते हुए कि देश के कौन से हिस्से किस महामारी के और किस मौसम में शिकार बनते हैं, भारत में मलेरिया और तपेदिक की रोकथाम के लिये राष्ट्रीय कार्यक्रम चल रहे हैं परन्तु सरकार के स्तर पर ये प्राथमिक कार्यक्रम नहीं हैं। यही कारण है कि इन चारों बीमारियों के खिलाफ एक समग्र जन अभियान खड़ा नहीं हो पाया। मध्यप्रदेश के स्तर पर यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि यहां देश में शिशु मृत्यु दर सबसे ऊंचे स्तर पर पहुंच चुकी है, देश में सबसे ज्यादा कुपोषित बच्चे भी मध्यप्रदेश में ही हैं। परन्तु इसके बावजूद 1.2 करोड़ छोटे बच्चों की जनसंख्या वाले इस राज्य में शिशु रोग विशेषज्ञों के महज 134 पद स्वीकृत हैं इनमें से भी 17 पद खाली पड़े हुए हैं। यह बेहद जरूरी है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं यानी सरकारी अस्पतालों में बच्चों, खासतौर पर नवजात शिशुओं की सुरक्षा के लिये प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के स्तर पर ठोस तंत्र विकसित किया जाता है परन्तु वर्तमान स्थिति यह है कि मध्यप्रदेश के 30 जिलों में अब भी शिशु स्वास्थ्य की विशेषज्ञ सुविधायें उपलब्ध नहीं हो पाई हैं।

सूचनाओं, आंकड़ों और तथ्यों की अनुपलब्धता भी बच्चों के स्वास्थ्य के मायने में हमारे सामने बड़ी चुनौती है। राज्य सरकार के पास ऐसी कोई प्रबंधकीय सूचना प्रणाली और तंत्र नहीं है जिससे यह पता चल सके कि यहां किन कारणों से बच्चों में मौतें या विकलांगता बढ़ रही है या उनके विकास के अवसर बाधित हो रहे हैं। इस बारे में कोई वर्गीकृत आंकड़े उपलब्ध ही नहीं हैं। जिससे कोई ठोस जवाबदेह कार्यक्रम बन पाने की संभावनायें खत्म हो जाती हैं। सूचना के अधिकार के एक आवेदन के तहत स्वास्थ्य विभाग बताता है कि मलेरिया, डायरिया, खसरा और निमोनिया से वर्ष 2004 से 2008 के बीच 16 हजार बच्चों की मृत्यु हुई। यदि इन मुख्य बीमारियों से केवल 16 हजार बच्चों की मौत हुई है तो फिर बाकी साढ़े पांच लाख बच्चों की मौत के क्या कारण रहे इसका कोई जवाब हमारे तंत्र के पास नहीं है। मध्यप्रदेश के धार और छिंदवाड़ा जिलों में तो साढ़े तीन वर्ष तक के बच्चों की मौत की जानकारियों को रिकार्ड में ही नहीं लाया गया जबकि ये वे जिले हैं जहां बच्चों के स्वास्थ्य सूचकांकों की स्थिति बेहद खराब रही है। जिम्मेदारी से बचने की सबसे अच्छी रणनीति यही है कि वस्तुस्थिति को समाज के सामने ही न आने दिया जाए। अब जरूरत है कि बच्चों के स्वास्थ्य की समस्याओं और हर बच्चे की मृत्यु के कारणों को पंजीकृत किया जाए और तत्काल सार्वजनिक किया जाए। इस काम में पंचायती राज व्यवस्था, आंगनवाड़ी और स्वास्थ्य विभाग के तंत्र को पाबंद किया जाना चाहिये। इसी प्रक्रिया में हर साल बच्चों के स्वास्थ्य और विकास के मुद्दे पर जिलावार राज्य स्तरीय सामाजिक अंकेक्षण रिपोर्ट तैयार कर जारी की जाए। बेहतर तो यह होगा कि हर विकासखण्ड और जिला स्तर पर बाल स्वास्थ्य सूचकों का सामाजिक अंकेक्षण हो, ऐसी व्यवस्था बनाई जाए। बजट के आवंटन की प्रक्रिया जटिल होती जा रही है। यह पता ही नहीं चलता है कि केन्द्र सरकार से कितनी राशि किन मदों में सीधे प्रवाहित होकर जिलों तक पहुंच रही है, जिससे राज्य में बच्चों के स्वास्थ्य के लिए होने वाले आवंटन और व्यय पर निगरानी रखना एक बेहद दुरूह काम हो जाता है और परिस्थितियों में सुधार नहीं हो पाता है। अब संवेदनशीलता के पैमाने पर नजर डालने की जरूरत है क्योंकि इतना कुछ गलत होने के बावजूद हम बच्चों के प्रति एक जवाबदेह स्वास्थ्य नीति और कानून के बारे में नहीं सोच रहे हैं। (सप्रेस)

परिचय – □ श्री सचिनकुमार जैन सक्रिय समाजकर्मी एवं अध्ययनशील लेखक हैं।

---

नोट : लेख का उपयोग होने पर कतरन एवं पारिश्रमिक की राशि 'सर्वोदय प्रेस सर्विस' के नाम भेजें।



साप्ताहिक सर्वोदय समाचार विचार सेवा, 29 संवाद नगर, नवलखा, इंदौर-452001 (म.प्र.) फोन एवं फैक्स- (0731) 2401083

संस्थापक – सम्पादक : सव. श्री महेन्द्रकुमार  
कार्यकारी सम्पादक : चिन्मय मिश्र

E.mail - indoresps@gmail.com  
sps2005@dataone.in

(पत्रिका के लिए विशेष आलेख)  
(20 नवम्बर अंतरराष्ट्रीय बाल दिवस पर विशेष)

## बाल स्वास्थ्य ताना बना है पर मंशा नहीं !

✍ सचिन कुमार जैन

बाल दिवस महज 'चाचा नेहरु' का जन्मदिन नहीं है। इसे भारत के भविष्य के निर्माण दिवस के रूप में देखा जाना चाहिए। इसी परिप्रेक्ष्य में अंतरराष्ट्रीय बाल दिवस को भी रेखांकित किया जाना चाहिए। साथ ही इस बात का मूल्यांकन भी आवश्यक है कि संयुक्त राज्य संघ द्वारा 20 नवम्बर 1989 को बाल अधिकार घोषणापत्र को स्वीकृत करने के पश्चात इसका किस हद तक क्रियान्वयन हुआ है। का. सं.

मध्यप्रदेश में बच्चों का बीमार बचपन क्यों नहीं सुधर पा रहा है? जबकि आज यहां 70 हजार आंगनवाड़ी केन्द्रों का बड़ा संस्थागत जाल बिछा हुआ है तथा इनमें जल्द ही 20 हजार आंगनवाड़ियाँ और जुड़ जाएंगी। यहां 60 हजार से अधिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता यानी आशा कार्यकर्ताओं का समूह भी है जिनकी आंखे गांवों में बच्चों के स्वास्थ्य पर नजर रख सकती हैं। परंतु इन डेढ़ लाख कार्यकर्ताओं की सेना में सरकार वह विश्वास पैदा नहीं कर पाई, जिससे बच्चों के स्वास्थ्य की समस्याओं को बड़े पैमाने पर हल किया जा सकता था। आंगनवाड़ी कार्यकर्ता मानदेय पर और आशा कार्यकर्ता प्रोत्साहन राशि पर अपने दायित्व निभाती हैं। उन्हें कोई वेतन या सुविधाएं नहीं मिलती हैं फिर भी उनके प्रति सरकार को जो सम्मान का वातावरण अपनी नीतियों में तैयार करना था, वह इन महिलाओं को नहीं मिल पाया। मध्यप्रदेश में आंगनवाड़ियों की कार्यकर्ताओं को 3 से 10 माह की देरी से मानदेय मिलता है और आशा को जननी सुरक्षा योजना की प्रोत्साहन राशि पाने के लिये सरकारी स्वास्थ्य केन्द्र के 3 से 5 चक्कर लगाने पड़ते हैं। राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के तहत यह प्रावधान है कि आशा कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण के उपरांत कुछ बीमारियों के गांव में ही इलाज की सुविधा देने के लिए दवाओं का किट दिया जाएगा किन्तु भारत सरकार ने अपनी ताजा समीक्षा (दिसम्बर 2008) में पाया कि जमीनी स्तर पर आशाओं को नियमित रूप से उस किट की दवायें मिलेंगी, इसकी कोई व्यवस्था नहीं है।

नए राजनैतिक परिदृश्य में बच्चों के स्वास्थ्य को बेहतर मुकाम तक ले जाने के लिए एक समग्र दृष्टिकोण की जरूरत हमेशा की तरह महसूस की जा रही है। अब देश और प्रदेशों में राजनैतिक स्थिरता का माहौल है जो बच्चों के स्वास्थ्य के बारे में नीति-निर्माताओं को सोच-विचार करने और एक परिणाममूलक ढांचा खड़ा करने के लिए सकारात्मक माहौल उपलब्ध करवाता है। विगत तीन वर्षों (वर्ष 2008-09 के पहले वाले वित्तीय वर्षों) में भारत में आर्थिक विकास की धारा साढ़े सात से नौ फीसदी प्रतिवर्ष की गति से आगे बढ़ी है। भारत सरकार की ताजा रिपोर्ट कहती है कि पहली बार भारत में प्रति व्यक्ति आय 3000/- रुपये प्रतिमाह के मनोवैज्ञानिक स्तर को पार कर रही है। इसके बावजूद यह मान लेना कि आर्थिक विकास की यही दर देश के मानव विकास को भी परिलक्षित करती है, एक भ्रम है। हमारा आर्थिक विकास बेहद वर्ग केन्द्रित विकास रहा है। इस विकास का फायदा एक खास वर्ग को मिला है। अब भी भारत की 80 फीसदी पूंजी पर 20 फीसदी परिवारों का कब्जा है। विकास के मसले को केवल प्रतिव्यक्ति आय के आंकड़ों तक ही सीमित नहीं रखा जाना चाहिए। खासतौर पर बच्चों की स्थिति के संदर्भ में यह बेहद जरूरी साबित हुआ है कि राज्य, बच्चों के स्वास्थ्य के संरक्षक की अपनी भूमिका को ईमानदारी के साथ स्वीकार करे। भारत में हर वर्ष 31 लाख बच्चों की मृत्यु पांच वर्ष से कम उम्र में हो जाती है और इनमें से 60

फीसदी तो अपना पहला जन्मदिन भी नहीं मना पाते हैं। इन बच्चों की मौतों के कारण बेहद साधारण हैं। ये डायरिया, खसरा, मलेरिया और निमोनिया जैसी इलाज योग्य बीमारियों के खिलाफ अपने जीवन की लड़ाई हार जाते हैं। यह जानते हुए कि देश के कौन से हिस्से किस महामारी के और किस मौसम में शिकार बनते हैं, भारत में मलेरिया और तपेदिक की रोकथाम के लिए राष्ट्रीय कार्यक्रम चल रहे हैं परन्तु सरकार के स्तर पर कोई प्राथमिक कार्यक्रम नहीं है। यही कारण है कि इन चारों बीमारियों के खिलाफ एक समग्र जनअभियान खड़ा नहीं हो पाया। मध्यप्रदेश के स्तर पर यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि यहां देश में शिशु मृत्यु दर सबसे ऊंचे स्तर पर पहुंच चुकी है, देश में सबसे ज्यादा कुपोषित बच्चे भी भारत में ही हैं। परन्तु इसके बावजूद 1.2 करोड़ छोटे बच्चों की जनसंख्या वाले इस राज्य में शिशु रोग विशेषज्ञों के महज 134 पद स्वीकृत हैं। इनमें से भी 17 पद खाली पड़े हुए हैं। यह बेहद जरूरी है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं यानी सरकारी अस्पतालों में बच्चों, खासतौर पर नवजात शिशुओं की सुरक्षा के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के स्तर पर ठोस तंत्र विकसित किया जाता है परन्तु वर्तमान स्थिति यह है कि मध्यप्रदेश के 30 जिलों में अब भी शिशु स्वास्थ्य की विशेषज्ञ सुविधाएं उपलब्ध नहीं हो पाई हैं।

यह बहुत पुरजोर ढंग से प्रचारित किया जा रहा है कि मध्यप्रदेश में 80 फीसदी प्रसव स्वास्थ्य संस्थानों में हो रहे हैं, परन्तु इस उपलब्धि के लिए इन्हीं कार्यकर्ताओं का सम्मान होना चाहिये क्योंकि गर्भवती महिलायें सरकारी अस्पतालों पर नहीं, स्थानीय कार्यकर्ताओं पर विश्वास करके संस्थागत प्रसव करवाने गई हैं। उन सरकारी संस्थानों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है जहां पिछले 10 वर्षों से 26 हजार बिस्तर ही हैं। संस्थागत प्रसव हेतु ढांचागत सुविधाओं में सुधार नहीं हुआ, पर संस्थागत प्रसव डेढ़ लाख से बढ़कर साढ़े पंद्रह लाख हो गए। ऐसे में सरकारी अस्पतालों के माहौल की जरा कल्पना कीजिए। देश में एक सुनियोजित नीति के तहत सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं के दायरे को सीमित किया गया है। वहां अब केवल गरीब परिवारों (जिनकी परिभाषा बेहद विसंगतिपूर्ण है) को रियायती इलाज मिलता है। इससे एक बड़ा मध्यमवर्ग दायरे से बाहर चला गया और स्वास्थ्य सेवाओं का अधिकार एक "चैरिटी" के रूप में स्थापित होता गया। गरीब अकेला चिल्लाएं तो उसकी कौन सुनेगा?

अब से दो दशक पहले बहुत हद तक सफलता के साथ संचालित हुए स्कूल स्वास्थ्य कार्यक्रम को बच्चों के स्वास्थ्य मद्देनजर फिर से सघन रूप से और सतत तरीके से चलाने की जरूरत है। बहरहाल सरकार को यह सुनिश्चित करना होगा कि स्कूल स्वास्थ्य कार्यक्रम बाजार में आने वाले नित नए उत्पादों को खपाने का केन्द्र न बन जाए। अब टीकाकरण कार्यक्रम का भी निरपेक्ष मूल्यांकन कर यह जांचने की जरूरत है कि कौन से टीके महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं और कौन से खतरनाक!

बच्चों के स्वास्थ्य पर नीति बनाते समय यह ध्यान रखना होगा कि कमजोर और बीमार बच्चे महज हमारे सामाजिक-आर्थिक उत्तरदायित्व का विषय न बनें। हमें इसे हर धरातल पर एक भावनात्मक मुद्दे के रूप में स्वीकार करना होगा। इन बच्चों को देखकर छाती में बेचैनी पैदा होनी चाहिए और यह बेचैनी तब तक रहना चाहिए जब तक कि हम बच्चों के संरक्षण के हिसाब का वातावरण और व्यवस्था न बना लें। (सप्रेस)

परिचय – □ श्री सचिनकुमार जैन सक्रिय समाजकर्मी एवं अध्ययनशील लेखक हैं।

---

नोट : लेख का उपयोग होने पर कतरन एवं पारिश्रमिक की राशि 'सर्वोदय प्रेस सर्विस' के नाम भेजें।

---



साप्ताहिक सर्वोदय समाचार विचार सेवा, 29 संवाद नगर, नवलखा, इंदौर-452001 (म.प्र.) फोन एवं फैक्स- (0731) 2401083

संस्थापक – सम्पादक : सव. श्री महेन्द्रकुमार  
कार्यकारी सम्पादक : चिन्मय मिश्र

E.mail - indoresps@gmail.com  
sps2005@dataone.in

(स्वदेश के लिए विशेष आलेख)  
(20 नवम्बर अंतरराष्ट्रीय बाल दिवस पर विशेष)

## नजर और नजरियों से बाहर बच्चे

✍ सचिन कुमार जैन

सचिन तेंदुलकर के क्रिकेट जीवन के 20 वर्ष पूरे होने पर देशभर में उत्साह का वातावरण है। इस खुशी में शामिल हो से कतई इंकार भी नहीं है। परंतु इसी वर्ष 20 नवम्बर को बच्चों के अधिकारों को लेकर संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र के भी 20 वर्ष पूरे हो रहे हैं। परंतु हम सबकी बच्चों और उसके अधिकारों में संभवतः कोई रुचि नहीं है। का. सं.

यह अब स्पष्ट है कि मध्यप्रदेश में स्वास्थ्य सेवाओं का लचरपन बजट की कमी और बजट के असमान वितरण से भी जुड़ा हुआ है। मध्यप्रदेश में बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य, संरक्षण व विकास पर सालभर में महज 65 रुपये प्रति बच्चे बजट का आवंटन होता है। इसके साथ ही यहां बच्चों के स्वास्थ्य के लिये तंत्र विकसित करने के लिये आंगनवाड़ी केन्द्रों और स्वास्थ्य केंद्रों के परस्पर समन्वित तंत्र को खूब मजबूत किया गया है। केरल और तमिलनाडु वे राज्य हैं जिन्होंने बच्चों को अण्डा, केला, नारियल के खाद्य पदार्थ और पूरी स्वास्थ्य देखभाल की ठोस व्यवस्था आंगनवाड़ी केन्द्र में दी, जिससे वहां कुपोषण घटकर आधा रह गया है। इस सिद्धान्त को भी दक्षिणी राज्यों ने सुनियोजित ढंग से लागू किया कि महिलाओं को पोषण एवं घरेलू स्वास्थ्य के बारे में जानकारी तो दी ही जाए और आंगनवाड़ी कार्यकर्ता और आशा उनसे निरन्तर संवाद करती रहे। छत्तीसगढ़ के मितानिन कार्यक्रम में भी यही सुनिश्चित किया गया कि गांव के स्तर पर ही डायरिया, मलेरिया, पेट में कृमि जैसी समस्याओं का तत्काल इलाज हो और जरूरत पड़ने पर बच्चों को तत्काल सरकार के बड़े अस्पताल में रैफर किया जाये। इससे वहां शिशु मृत्यु दर में काफी गिरावट आई है।

मध्यप्रदेश के संदर्भ में समस्या यह है कि यहां विचार तो पनपे परंतु उनमें परिणामों के फल नहीं खिल पाये और सामुदायिक एवं पारम्परिक ढांचों के साथ न केवल खिलवाड़ किया गया बल्कि इनके निजीकरण को भी प्रोत्साहित किया गया। मध्यप्रदेश में स्थानीय स्वास्थ्य पद्यतियों को सरकार के स्तर पर खत्म किया गया है। यहां बिना वैकल्पिक व्यवस्था खड़ी किए 60 हजार दाईयों की सेवायें समाप्त कर दी गईं। जिसका सीधा असर गर्भवती महिलाओं और बच्चों के स्वास्थ्य पर पड़ा। सवाल यह है कि क्या समाज में सम्मान रखने वाली इन दाईयों को बहिष्कृत करने के बजाये सघन प्रशिक्षण देकर इन्हें स्वास्थ्य प्रदाता नहीं बनाया जा सकता था? दूसरी ओर बाल स्वास्थ्य की नयी व्यवस्थायें खड़ी करने के लिये राज्य एवं केन्द्र सरकारें बजट का आवंटन नहीं कर रही हैं।

पिछले तीन-चार वर्षों से एक नया विश्लेषण सामने रखा जाता है कि नये चिकित्सक गांव या सरकारी अस्पतालों में नहीं जाना चाहते हैं, जबकि उनके लिये 30 हजार रुपये का मानदेय और अन्य सुविधायें सरकार ने तय कर दी हैं। इसी के समानांतर यह सवाल उठता है कि बैंक से 14 फीसदी ब्याज दर पर 25 लाख रुपये का कर्ज लेकर चिकित्सक की डिग्री लेने वाले युवाओं से सरकारी सेवा में काम करने की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? यह भ्रम पैदा किया गया है कि युवा गांव नहीं जाना चाहते हैं, पर सच यह है कि सरकार ने ही निजी क्षेत्र और निजी चिकित्सा शिक्षा को बे-लगाम होने की स्वतंत्रता दी है। अब स्वास्थ्य "सेवा" नहीं "बाजार" है और इसका सबसे सीधा असर बच्चों के ऊपर पड़ता है क्योंकि वे परिवार से लेकर राज्य के ढांचे को प्रभावित नहीं कर पाते हैं इसलिये वे हर नीति और बाजार के अशुभ-लाभ के चारित्रिक गुणों का प्रकोप सहने के लिये बाध्य होते हैं। यह बड़ी विरोधाभास की स्थिति है, निजी अस्पताल, फिर चाहे वह चौबीसों घंटे शुल्क आधाति सेवा में तैनात रहता है

परन्तु उप स्वास्थ्य केन्द्र और प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों को चौबीसों घंटे सक्रिय रखने का सपना अब भी व्यावहारिक रूप से सरकार के लालफीतों में बंद है।

सरकार किसी जन मुद्दे के संदर्भ में अपनी नीतिगत प्राथमिकताओं का निर्धारण बजट आवंटन करके स्पष्ट करती है। बच्चों के स्वास्थ्य के संदर्भ में सेंटर फॉर बजट गर्वनेंस एण्ड अकाउण्टेबिलिटी ने बजट का विश्लेषण करके सरकार की बच्चों के स्वास्थ्य के प्रति उपेक्षा को बहुत स्पष्टता से उजागर किया है। उनका अध्ययन बताता है कि मध्यप्रदेश सरकार राज्य के सकल घरेलू उत्पाद का केवल 0.1 प्रतिशत हिस्सा बच्चों के स्वास्थ्य पर खर्च करती है और इतना कम बजट आवंटन राज्य की नीतिगत मंशाओं पर सवाल खड़े करता है। राज्य में वर्ष 2006-07 के बजट अनुमानों के मुताबिक बच्चों के लिये आवंटित होने वाले कुल बजट में से 79.7 फीसदी शिक्षा पर व्यय होता है और मात्र 2 प्रतिशत बच्चों के स्वास्थ्य के लिये आवंटित हुआ। राज्य के आयोजना व्यय के तहत 1977-98 में बच्चों के स्वास्थ्य के लिये 38.3 करोड़ रुपये का आवंटन हुआ था जो बढ़ने के बजाये वर्ष 2006-07 के बजट अनुमानों में महज 38.1 करोड़ रुपये रह गया था। इसमें आदिवासी वर्गों के लिये आयोजना व्यय तो शून्य ही रहा है। यही कारण है कि आदिवासी समूहों में शिशु मृत्यु दर और बाल मृत्यु दर राज्य के औसत से डेढ़ गुना ज्यादा है। समग्रता में देखा जाये तो वर्ष 2005-06 के वित्तीय वर्ष में राज्य और केन्द्र सरकारों ने मिलकर देश के 2.48 करोड़ (राज्य कुल जनसंख्या का 44 फीसद) बच्चों के स्वास्थ्य के लिए कुल 156.8 करोड़ रुपये का आवंटन किया यानी एक बच्चे के स्वास्थ्य के लिये वर्ष भर में 63.3 रुपये का आवंटन। बात स्पष्ट है कि बच्चों के स्वास्थ्य का मुद्दा सरकारी प्राथमिकता में नहीं है। बच्चों पर हुये कुल आवंटन 4647.7 करोड़ रुपये में से महज 3.4 प्रतिशत यानी सबसे कम आवंटन बच्चों के स्वास्थ्य के लिए हुआ।

फिलहाल नीतिगत स्तर पर चिकित्सा के क्षेत्र को सेवा क्षेत्र में लाने और बीमा उद्योग के साथ जोड़ने की कोशिशें चल रही हैं। सत्ता में आरूढ़ कांग्रेस ने भी अपने चुनावी घोषणा पत्र में सबको स्वास्थ्य बीमा की योजना के छाते के नीचे लाने की वकालत की थी, परन्तु सवाल यह है कि बीमित परिवार को (खासतौर पर जब वह गरीब और वंचित हों) निजी अस्पतालों में प्रवेश भी मिल पाता है? अब तक के अनुभव बताते हैं कि उसे इलाज नहीं बल्कि अपमान और दुत्कार मिलती है। बीमा क्षेत्र एक लाभ का व्यापार क्षेत्र है जबकि स्वास्थ्य का क्षेत्र लाभ की मंशा से मुक्ति की मांग करता है। हां, स्वास्थ्य बीमा थोड़ा सफल हो सकता है यदि राष्ट्रीयकृत बीमा क्षेत्र स्वास्थ्य बीमा की जिम्मेदारी उठाने को तैयार हों और सरकार उसका भार वहन करे। निजी स्वास्थ्य बाजार और निजी बीमा क्षेत्र के पाट मिलकर हमारे उन 82 करोड़ परिवारों को पीसकर रख देंगे, जो अर्जुन सेनगुप्ता की रिपोर्ट के मुताबिक 20 रुपये प्रतिदिन से भी कम खर्च करके जिन्दगी जीने का कर्तव्य पूरा करते हैं।

विडम्बना देखिये कि हमारे राज्यों में बच्चों के अधिकारों की क्या स्थिति है इसे जांचने की कोई व्यवस्था ही नहीं बनी है। यह जरूरी है कि विकास के पैमानों के तहत पंचायत, विकासखण्ड और जिला स्तर पर निगरानी तंत्र बनाया जाये। विकास के तहत केवल सड़कों की लम्बाई और इमारतों की संख्या मापा जान अनुचित है, जरूरी यह देखा जाना है कि इस अधोसंरचनात्मक विकास का बच्चों के जीवन पर क्या और किस तरह का असर पड़ रहा है। सन् 1989 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने बाल अधिकार घोषणापत्र जारी किया और भारत ने सन् 1992 में इस पर हस्ताक्षर किये थे। अंतरराष्ट्रीय लोक अधिकार कानून के संदर्भ में बाल अधिकार समझौते को कानूनी रूप से लागू करना उन सभी देशों-सरकारों के लिये बंधनकारी है, जिन्होंने इसे स्वीकार किया है। परन्तु भारत में अब भी संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार समझौते के तहत बाल अधिकारों को एक समग्र दृष्टिकोण से देखने के बजाये टुकड़ों-टुकड़ों में देखा जाता है। भारत में बच्चों के अधिकारों के उल्लंघन के मामलों को न्यायालयीन व्यवस्था में कोई विशेष स्थान नहीं है और यह सामाजिक न्याय व्यवस्था के हिस्से के रूप में परिभाषित नहीं होता है।

अब यह सोच बदलनी होगी कि बीमार बच्चे खुद सरकारी अस्पताल जायें तो ही उन्हें इलाज मिलेगा या स्कूल पहुंचने के लिये उन्हें खुद ही संघर्ष करना पड़ेगा और तो और पुलिस भी उन्हें भी इंसानी रूप नहीं दिखाती है। अब बच्चों के स्वास्थ्य के संदर्भ में यह सुनिश्चित करना होगा कि विशेषज्ञ स्वास्थ्य सेवायें ब्लाक स्तर पर स्थापित की जाएं और बच्चों की उन तक पहुंच हों। चिकित्सा शिक्षा नीति पर भी जनकल्याणकारी नजरिये से विचार करके निजी व्यय को कम करने की जरूरत है, तभी, यानी चिकित्सा शिक्षा व्यय में सरकारी मदद देकर, चिकित्सकों को गांव जाकर वहां सेवायें देने के लिये प्रेरित किया जा सकता है। आंगनवाड़ी और आशा कार्यकर्ता को सम्मान के साथ स्वास्थ्य सेवाओं के ढांचे से जोड़कर रखा जाना चाहिये, उनका प्रशिक्षण हो ताकि उनकी क्षमताओं में समाज विश्वास कर सके। निजी स्वास्थ्य केन्द्र और अस्पतालों को नीतिगत या संभव हो सके तो कानून से पाबंद करना होगा कि आकस्मिक परिस्थितियों में वे बच्चों का निःशुल्क प्राथमिक उपचार करेंगे, यह बच्चों की जीवन के संवैधानिक अधिकार का सवाल माना जाना चाहिये। अब भी हमारे सभी स्वास्थ्य कार्यक्रम इसी तर्ज पर चलते हैं कि जिसे जरूरत है वह स्वास्थ्य केन्द्र तक आये और जब महामारी फैले तभी कोई कदम बढ़ाओ।

बच्चों के प्रति राज्य के बेहद असंवेदनशील होने का प्रमाण साफ नजर आता है कि बच्चों की जरूरतों और उनके जीवन के अधिकार को हमारी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था अब तक मन से महसूस ही नहीं कर पाई है। (सप्रेस)

परिचय – □ श्री सचिनकुमार जैन सक्रिय समाजकर्मी एवं अध्ययनशील लेखक हैं।

नोट : लेख का उपयोग होने पर कतरन एवं पारिश्रमिक की राशि 'सर्वोदय प्रेस सर्विस' के नाम भेजें।



साप्ताहिक सर्वोदय समाचार विचार सेवा, 29 संवाद नगर, नवलखा, इंदौर-452001 (म.प्र.) फोन एवं फैक्स- (0731) 2401083

संस्थापक – सम्पादक : सव. श्री महेन्द्रकुमार  
कार्यकारी सम्पादक : चिन्मय मिश्र

E.mail - indoresps@gmail.com  
sps2005@dataone.in

(केवल नईदुनिया के लिए विशेष आलेख)  
(20 नवम्बर अंतरराष्ट्रीय बाल दिवस पर विशेष)

## बच्चों के लिए समग्र दृष्टिकोण की दरकार

✍ सचिन कुमार जैन

विश्व बाल दिवस हमें मौका दे रहा है कि हम अपने देश के बच्चों को आंख खोलकर देखें। आधे से अधिक बच्चे कुपोषण का शिकार हैं और केन्द्र व राज्य सरकारें एक दूसरे पर मीडिया में आरोप लगाकर अपने-अपने कर्तव्यों की इतिश्री कर लेती हैं। इस मनोवृत्ति से छुटकारा पाना आवश्यक है। का. सं.

हमारी कुल जनसंख्या में 44 फीसदी हिस्सा 18 वर्ष से कम उम्र के बच्चों का है। ये वही वर्ग है जिसकी बुनियाद को मजबूत करने की मंशा की तलाश हो रही है। परन्तु राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक धरातल पर इन बच्चों के अधिकारों को संरक्षित करने की पहल अब भी नजर नहीं आती है। मध्यप्रदेश में बच्चों के साथ सबसे ज्यादा अपराध होते हैं, इसी राज्य का शहर इंदौर उन शहरों की सूची में दूसरे नम्बर पर है जहां बच्चों के साथ सबसे ज्यादा शोषण दर्ज होता है। वर्ष 2001 की जनगणना यह बताती है कि मध्यप्रदेश में 10 लाख बच्चे मजदूरी करके अपना और अपने परिवार का जीवन चलाने की कोशिश कर रहे हैं। बाल मजदूरी को खत्म करने के लिये सरकार ने कानून तो बना दिया पर इसमें अपेक्षा की जा रही है कि वे स्वयं मजदूरी छोड़ दें। परन्तु गरीबी और शोषण के जाल को तोड़ने में कोई नीतिगत हस्तक्षेप दिखाई नहीं दे रहा है।

मौजूदा व्यवस्था में कारणों (जैसे- कुपोषण) को महिला बाल विकास के दायित्वों में रखा गया है। परन्तु इसका परिणाम (यानी मृत्यु) स्वास्थ्य विभाग के कागजों का हिस्सा बनाया गया है। बच्चे यदि विकलांग हैं तो वह सामाजिक न्याय विभाग को खोजेगा और आदिवासी बच्चे को शिक्षा चाहिये तो छात्रवृत्ति के लिये आदिवासी कल्याण विभाग को भागेगा। मध्यान्ह भोजन स्कूल में बंटना जरूरी है पर इसकी जिम्मेदारी ग्रामीण विकास विभाग की है। सरकार बच्चों को बच्चों के नजरिये से नहीं बल्कि एक खिलौने के रूप में देखती है। उनके समग्र अधिकारों और संरक्षण के लिए कोई एकीकृत नीति ही नहीं है।

हमारे यहां शराब नीति है, पर बच्चों के स्वास्थ्य के लिये कोई नीति नहीं है। यह बेहद चिंतनीय है कि मध्यप्रदेश में होने वाली कुल मौतों में से एक तिहाई पांच वर्ष से कम उम्र के बच्चे होते हैं, यहां शिशु मृत्युदर और कुपोषण देश में सबसे ऊंचे स्तर पर है। सबसे ज्यादा मौते संक्रमण, डायरिया और निमोनिया यानी इलाज योग्य बीमारियों के कारण होती है। सरकार जानती है कि यहां महज 16 फीसदी बच्चों के जन्म के बाद मां का दूध पिलाया जाता है और इसे 100 फीसदी करके नवजात शिशु मृत्यु दर को 45 से 26 मृत्यु प्रति हजार जीवित जन्म तक लाया जा सकता है। समझ और सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के जमीनी ढांचा को विकसित करके न केवल बच्चों को सम्मानजनक जीवन का अधिकार दिलाया जा सकता है बल्कि आर्थिक विकास दर को भी आने वाले 10 सालों में 4 से 5 फीसदी बढ़ाकर 12 से 13 प्रतिशत तक पहुंचाया जा सकता है। स्थिति बदहाल है और मध्यप्रदेश के ढाई करोड़ से ज्यादा बच्चे बाल अधिकार और स्वास्थ्य नीति का अब भी इंतजार ही कर रहे हैं। अब स्वास्थ्य बच्चों का मौलिक अधिकार होना चाहिये, इसके बिना बच्चों के विकास के सहस्राब्दी लक्ष्य हासिल नहीं किये जा सकेंगे।

इसी साल कुपोषण एवं बच्चों के स्वास्थ्य के मुद्दे पर सतना के मझगवां विकासखण्ड में जन सुनवाई करते हुये राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग की स्वास्थ्य सलाहकार डॉ. वंदना प्रसाद बताती हैं कि बच्चों को गंभीर बीमारियाँ नहीं हैं किन्तु कुपोषण के ऊंचे स्तर और स्वास्थ्य सेवाओं के लचरपन के कारण ही दो तिहाई से ज्यादा मौतें हो रही हैं। अब आदिवासी बच्चों के स्वास्थ्य के लिये सघन कार्यक्रम की जरूरत है ताकि स्वास्थ्य सेवायें 24 घंटे उनकी पहुंच में हों। यह एक विडम्बना ही है कि मध्यप्रदेश में बच्चों को स्वास्थ्य सेवाओं का कानूनी अधिकार नहीं मिला है। यही कारण है कि यहां इलाज पर होने वाले 100 रुपये के खर्च में से 75 रुपये लोगों को अपनी जेब से खर्च करने पड़ते हैं। बच्चों के स्वास्थ्य को विकास के सूचक के रूप में नहीं देखा जाता है। मध्यप्रदेश के ढांचे में अस्पताल, दवाओं, जांच पर और देखभाल के संदर्भ में सबसे कम सेवाओं की उपलब्धता बच्चों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित है क्योंकि यह एक संवेदनशील मामला है।

राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के मुताबिक मध्यप्रदेश के 12 लाख से ज्यादा बच्चे गंभीर कुपोषण की चपेट में हैं और दुनिया की सबसे विश्वसनीय स्वास्थ्य शोध पत्रिका 'द लासेंट' के मुताबिक ऐसे बच्चों के डायरिया, निमोनिया, खसरा या मलेरिया के कारण मर जाने की संभावना सुपोषित बच्चों की तुलना में 8 से 18 गुना ज्यादा होती है। गंभीर कुपोषित बच्चे सामान्य संक्रमण से लड़ने की क्षमता भी खो बैठते हैं। यदि हमें शिशु-मृत्युदर में कमी के सहस्राब्दी विकास लक्ष्यों को हासिल करना है तो पोषण पुनर्वास केन्द्रों के तंत्र को और विकसित करना होगा। इसके साथ ही कुपोषित बच्चों के सामुदायिक पुनर्वास की प्रक्रिया में इन बच्चों के लिये स्थानीय स्तर पर स्थानीय सामग्री से बने पोषण आहार, नियमित स्वास्थ्य जांच और वृद्धि निगरानी की व्यवस्था बनाना जरूरी है।

गंभीर कुपोषण के शिकार बच्चे मौत के मुहाने पर होते हैं। ऐसे में इन बच्चों के परिवारों को अन्त्योदय अन्न योजना का हितग्राही बनाना जरूरी है क्योंकि कुपोषण स्वास्थ्य से ज्यादा, भुखमरी और खाद्य असुरक्षा से जुड़ा हुआ मसला है। मध्यप्रदेश के पोषण पुनर्वास केन्द्रों में महज 2100 पलंग उपलब्ध हैं इनमें से भी साल 2008 में 42.6 फीसदी पलंग ही उपयोग में लाये जा सके। वहां पर यदि कम से कम 14 दिन गंभीर कुपोषित बच्चे को भर्ती करके उसकी देखभाल की जाये तो भी यह साल भर में 48 हजार, यानी कुल गंभीर कुपोषित बच्चों का 3.8 प्रतिशत, बच्चों का ही इलाज हो पायेगा। इस व्यवस्था को उपयोगी बनाने के लिये आदिवासी क्षेत्रों में खास प्रयास करने होंगे।

मलेरिया पर बेहद लापरवाही के साथ राष्ट्रीय कार्यक्रम का संचालन हो रहा है। वर्ष 2009-10 में संक्रामक बीमारियों का दौर (यानी गर्मी से मानसून) आ जाने के बावजूद कोई बजट जारी नहीं किया गया था। जमीनी स्थिति के मुताबिक पिछले पांच वर्षों में संक्रमण-पोषण की कमी के कारण 5 वर्ष बच्चों में इसका प्रकोप दो गुना बढ़ गया है। परन्तु अब तक कोई ठोस कार्ययोजना बच्चों के लिये सामने नहीं आई है।

हमारे राज्यों में बच्चों के अधिकारों की क्या स्थिति है इसे जांचने की कोई व्यवस्था ही नहीं बनी है। यह जरूरी है कि विकास के पैमानों के तहत पंचायत, विकासखण्ड और जिला स्तर पर निगरानी तंत्र बनाया जाये। विकास के तहत केवल सड़कों की लम्बाई और इमारतों की संख्या मापा जान अनुचित है, जरूरी यह देखा जाना है कि इस अधोसंरचनात्मक विकास का बच्चों के जीवन पर क्या और किस तरह का असर पड़ रहा है। सन् 1989 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने बाल अधिकार सम्मेलन जारी किया और भारत ने सन् 1992 में इस पर हस्ताक्षर किये थे।

अब यह सोच बदलनी होगी कि बीमार बच्चे खुद सरकारी अस्पताल जायें तो ही उन्हें इलाज मिलेगा या स्कूल पहुंचने के लिये उन्हें खुद ही संघर्ष करना पड़ेगा और तो और पुलिस भी उन्हें भी इंसानी रूप नहीं दिखाती है। अब बच्चों के स्वास्थ्य के संदर्भ में यह सुनिश्चित करना होगा कि विशेषज्ञ स्वास्थ्य सेवायें ब्लाक स्तर पर स्थापित की जायेंगी और बच्चों की पहुंच में हों ताकि जरूरत पड़ने पर उन्हें इलाज मिल सके। चिकित्सा शिक्षा नीति पर भी जनकल्याणकारी नजरिये से विचार करके निजी व्यय को कम करने की जरूरत है, तभी, यानी चिकित्सा शिक्षा व्यय में सरकारी मदद देकर, चिकित्सकों को गांव जाकर वंहा सेवायें देने के लिये प्रेरित किया जा सकता है। आंगनवाड़ी और आशा कार्यकर्ता को सम्मान के साथ स्वास्थ्य सेवाओं के ढांचे से जोड़कर रखा जाना चाहिये, उनका प्रशिक्षण हो ताकि उनकी क्षमताओं में समाज विश्वास कर सके। निजी स्वास्थ्य केन्द्र और अस्पतालों को नीतिगत या संभव हो सके तो कानून से पाबंद करना होगा कि आकस्मिक परिस्थितियों में वे बच्चों का निःशुल्क प्राथमिक उपचार करेंगे, यह बच्चों की जीवन के संवैधानिक अधिकार का सवाल माना जाना चाहिये। अब भी हमारे सभी स्वास्थ्य कार्यक्रम इसी तर्ज पर चलते हैं कि जिसे जरूरत है वह स्वास्थ्य केन्द्र तक आये और जब महामारी फैले तभी कोई कदम बढ़ाओ। महामारियों को पैदा होने और उसे फैलने से रोकने की रणनीतियों का अब भी जबरदस्त अभाव है। शायद संकट हमारी नीयत का भी है। (सप्रेस)

**परिचय – □ श्री सचिनकुमार जैन सक्रिय समाजकर्मी एवं अध्ययनशील लेखक हैं।**

**नोट :** लेख का उपयोग होने पर कतरन एवं पारिश्रमिक की राशि 'सर्वोदय प्रेस सर्विस' के नाम भेजें।